बौद्धविद्या एवं उसके अध्ययन के क्षेत्र में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का योगदान

डा. नीरज कुमार पाण्डेय*

कई शताब्दियों के भारतीय दार्शनिक प्रयासों का अन्तिम फल हमें बुद्ध के क्षणिक (अनात्मवाद) दर्शन के रूप में प्राप्त होता है। नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, भव्य, चन्द्रकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, जितारि, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नकीर्ति, रत्नाकरशान्तिपाद, शंकरनन्दन आदि भारत के महान् दार्शनिक इसी धारा में उत्पन्न हुए थे। बाद के भारत के प्रायः अन्य सारे बौद्धेतर दार्शनिक उन्हीं के मतों में कमोवेश हेर-फेर कर अपने मतों का प्रचार करते दिखाई पड़ते हैं। उनमें मौलिक चिन्तन का प्रायः अभाव दिखाई पड़ता है।

बुद्ध अतिवादी नहीं थे। उन्होंने जहाँ एक तरफ अत्यन्त भोगमय जीवन की भर्त्सना की वहीं दूसरी ओर उन्होंने शरीर को घोर कष्ट देकर व्रत तपस्या करने को भी मूर्खता करार दिया। घोर कर्मकाण्ड तथा भक्ति की अपेक्षा उन्होंने ज्ञान और बुद्धिवाद को प्राथमिकता दी तथा मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया। बुद्ध अपने जीवन काल में तथा बाद में भी महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों को आकर्षित तथा बुद्ध धर्म में दीक्षित करने में समर्थ हुए। यह उन्हीं के विचारों का आकर्षण था कि मगध के सारिपुत्र, मौद्गल्यायन तथा महाकश्यप के अतिरिक्त सुदूर उज्जैन के राजपुरोहित महाकात्यायन जैसे विद्वान् ब्राह्मण भी उनके शिष्य बने। स्वयं बोधगया के उरुवेल काश्यप, नदीकाश्यप और गयाकाश्यप ने अपने एक हजार ब्राह्मण जटिल (यज्ञ करने वाले) अनुयायियों के साथ बुद्ध के विचारों से प्रभावित होकर उनके धर्म में दीक्षा ली। बुद्ध एक प्रयोगवादी दार्शनिक थे। उन्होंने अन्ध श्रद्धा के स्थान पर बुद्धिवाद, ज्ञान तथा तर्क पर विशेष जोर दिया जिसके परिणामस्वरूप बहुत से बुद्धिवादी ब्राह्मण तथा अन्य जातियों के लोग भी बुद्धधर्म में दीक्षित होने लगे जिससे बाद में संघ बना। यह संघ भी जनतांत्रिक व्यवस्था पर आधारित था।

अनित्य, दुःख और अनात्म *(अंगुत्तर निकाय* 3.1.34) इस एक ही सूत्र में बुद्ध का सारा दर्शन समाहित है। इनके दर्शन में अनित्यता एक ऐसा नियम है जिसका कोई अपवाद नहीं है। इनके अनुसार किसी एक तत्त्व का बाहरी परिवर्तन मात्र ही परिवर्तन नहीं अपितु एक तत्त्व का बिल्कुल नाश तथा दूसरे तत्त्व का बिल्कुल नया उत्पाद है। बुद्ध कार्यकारण की निरन्तर या अविच्छिन्न सन्नति को नहीं मानते। किन्तु वे प्रतीत्यसमुत्पाद को मानते हैं अर्थात् इसके होने पर यह होता है। एक के विनाश होने पर दूसरे की उत्पत्ति को ही बुद्ध ने प्रत्यय समुत्पाद कहा है। दुःख है, दुःख का हेतु (समुदय), दुःख का निरोध (विनाश) तथा दुःख निरोध का मार्ग है। जो भी धर्म (वस्तुएँ अथवा घटनाएँ) है, वह हेतु से उत्पन्न होते हैं। उनके हेतु को बुद्ध ने कहा और उनका जो निरोध है उसे भी उन्होंने बताया :

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः।।

बुद्ध व्यावहारिक प्रयोगवादी दार्शनिक थे। उनका मत व्यक्ति को सुधारने में था क्योंकि व्यक्ति में सुधार आने पर समाज में अपने आप सुधार होगा। उनका स्पष्ट मत था कि काँटों से बचने के लिए समस्त पृथ्वी को ढँका नहीं जा सकता, अपितु पैरों को चमड़े से ढँककर काँटों से बचाया जा सकता है। यहाँ उन्होंने दुःख और उसकी जड़ को समाज का न ख्याल कर व्यक्ति में देखने की कोशिश की। यही वजह थी कि उन्होंने कामभोग की लिप्सा

* ज्ञान-प्रवाह, सांस्कृतिक अध्ययन एवं शोध केन्द्र, वाराणसी

एवं तृष्णा में राजाओं, क्षत्रियों, ब्राह्मणों, वैश्यों तथा सारी दुनिया को झगड़ते, मरते-मारते तथा लहूलुहान होते देखकर भी उस तृष्णा को व्यक्ति से हटाने की कोशिश की और हम पाते हैं कि उनका यह प्रयोग बहुत ही सफल रहा। इसी कारण मगध का राजा बिम्बिसार, कोशल का प्रसेनजित्, शाक्य, मल्ल, लिच्छवि, प्रजातन्त्रों में उनके अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक थी। श्रावस्ती के सुदत्त (अनाथ पिंडक) और विशाखा, कौशाम्बी के श्रेष्ठीगणों, यहाँ तक की अङ्गुलिमाल जैसे दुर्दान्त हिंसक दस्यु, जिससे प्रसेनजित् की सेना भी थर्राती थी, का भी बुद्ध ने हृदय परिवर्तन कर दिया था। बुद्ध के धर्म को भारत तथा उससे बाहर फैलाने में राजाओं से अधिक सार्थवाहों ने सहायता की। यह बुद्ध धर्म का ही असर है कि तिब्बत, मंगोलिया आदि देश जो बुद्ध धर्म पहुँचने के पहले एक दूसरे के खून की होली खेला करते थे बौद्ध होने के बाद अमन शान्ति के पुजारी बन गये जो अभी तक कायम है।

बुद्ध के क्षणिकवाद या परिवर्तनवाद के सिद्धान्त के अनुसार स्वयं बुद्धधर्म में ही ई.पू. तीसरी शताब्दी तक बुद्ध का स्थविरवाद अठारह निकायों में विभक्त हो चुका था।

परिवर्तन विश्व के रोम-रोम में व्याप्त है। प्राणि-अप्राणि सारा जगत् इस नियम से जकड़ा हुआ है। विचार बदलते रहते हैं, राय बदलती रहती है, हमारी रुचि-अरुचि, हमारे सदाचारीय मूल्य आँकने की भावना, हमारी समझ स्वयं हमारा स्वभाव भी बदलता रहता है। बुद्ध ने बुद्ध धर्म अथवा बुद्ध वचन को संस्कृत (छांदस) में लिखने अथवा बोलने का निषेध किया था किन्तु ईसा की पहली शती के प्रारम्भ से ही सारे बुद्ध वचन तथा व्याख्या ग्रन्थों की रचना संस्कृत में होने लगी। सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार तथा माध्यमिक इन चारों सम्प्रदायों के ग्रन्थ संस्कृत में रचे जाने लगे। नालन्दा, ओदन्तपुरी तथा विक्रमशील महाविहारों में इन सम्प्रदायों से सम्बद्ध हजारों की संख्या में तालपत्र पर संस्कृत में लिखी पोथियाँ थीं। सातवीं शती में भारत भ्रमण को आए ह्वेनसांग ने नालन्दा महाविहार तथा यहाँ के पुस्तकालयों में रखीं पाण्डुलिपियों के बारे में अपने यात्रावृत्तान्त में विस्तृत वर्णन किया है। इत्सिंग ने भी नालन्दा महाविहार का विस्तृत वर्णन किया है, क्योंकि उसने पन्द्रह वर्षों तक नालन्दा में रहकर अध्ययन किया था। इस प्रकार चौथी शती से बारहवीं शती तक नालन्दा में हजारों की संख्या में असंग, बसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील आदि आचार्यों की संस्कृत में रचित कृतियाँ नालन्दा के पुस्तकालय में विद्यमान थीं। इस बीच तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए आठवीं शती में नालन्दा से शान्तरक्षित गये। उसके बाद पद्मसंभव तथा अन्य आचार्य भी जाते रहे। आठवीं से बारहवीं शती के मध्य लगभग साढ़े चार हजार बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद हुआ। तिब्बती लोग तिब्बती भाषा में अनुवाद किये ग्रन्थों के सहारे ज्ञान प्राप्त करने लगे तथा संस्कृत ग्रन्थों को बण्डल में बाँधकर मठों में रख दिया गया अथवा स्तूपों तथा मूर्तियों के भीतर रखकर बन्द कर दिया गया। इस प्रकार भारतीय तालपत्र की पोथियाँ अधिकांश तिब्बत में सुरक्षित रहीं।

वेदों के अपौरुषेय, ईश्वरवाद और उनके प्रमाण आदि सिद्ध करने के लिए तर्कशास्त्र की रचना सनातन धर्म में पहले ही हो चुकी थी। बुद्ध ने अनात्म, अनीश्वर आदि अनेक विषयों का सिद्धान्त दिया था जिनको सिद्ध करने के लिए बौद्ध न्याय का जन्म हुआ और इसके जनक प्रख्यात बौद्ध आचार्य दिङ्नाथ थे। उन्होंने सर्वप्रथम *प्रमाणसमुच्चय* तथा उसकी वृत्ति लिखकर बौद्ध न्याय शास्त्र का प्रवर्त्तन बौद्धवाङ्मय में किया। इस ग्रन्थ में उन्होंने अक्षपाद कृत *न्यायसूत्र* पर वात्स्यायन कृत *न्यायभाष्य* के कई बिन्दुओं का खण्डन किया। इसका जवाब उद्योतकर ने *न्यायवार्त्तिक* में दिया। पुनः धर्मकीर्त्ति ने उद्योतकर का प्रतिषेध (खण्डन) अपने ग्रन्थ *प्रमाणवार्त्तिक* में किया। पुनः धर्मकीर्त्ति का प्रतिषेध नवीं शती के वाचस्पतिमिश्र (प्रथम) ने अपने ग्रन्थ *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका* में किया। पुनः वाचस्पति मिश्र का प्रतिषेध बौद्ध नैयायिक ज्ञानश्रीमित्र ने अपने ग्रन्थ *ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि* में किया। ज्ञानश्रीमित्र का प्रतिषेध अन्तिम रूप से उदयनाचार्य ने अपने ग्रन्थ *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि* में तथा अपने अन्य ग्रन्थों *व्यक्तिविवेक,*

न्यायकुसुमाञ्जलि आदि ग्रन्थों में किया। उसके बाद *वादरहस्य नामक* एक अपूर्ण ग्रन्थ मिलता है। इसके ग्रन्थकार का नाम नहीं होने से यह निश्चित करना बहुत कठिन है कि यह किसका ग्रन्थ है। इसका तिब्बती अनुवाद भी उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार परस्पर खण्डन-मण्डन की परम्परा के कारण भारतीय न्यायशास्त्र (सनातन एवं बौद्ध) दोनों का प्रभूत विकास हुआ। न्यायशास्त्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म चिंतन का अवसर मिला जिसका उपयोग उन लोगों ने अपने-अपने पक्ष को मजबूत बनाने में किया किन्तु बारहवीं शती के अन्त में तुर्कों के आक्रमण के कारण नालन्दा, ओदन्तपुरी और विक्रमशील विहारों के ध्वस्त हो जाने के कारण भारतवर्ष में बौद्धधर्म लुप्त हो गया जिससे भारतीय न्यायशास्त्र को सबसे अधिक क्षति पहुँची। जितनी उन्नति दोनों न्यायशास्त्रों की हो चुकी थी, उतना ही रह गया। उसके बाद नव्यन्याय का जन्म हुआ जो इन दोनों से बिल्कुल हटकर था।

राहुल सांकृत्यायन के मन में भारतीय न्याय एवं दर्शन समझने की तीव्र लालसा थी। न्याय तथा दर्शन पढ़ने हेतु वे बंगाल के नदिया (नवद्वीप) तथा दक्षिण के तिरुमिशी नामक स्थान पर गये। वहाँ पर न्याय ग्रन्थों के पढ़ाई का प्रबन्ध था। किन्तु बौद्धन्याय के ग्रन्थों के भारतवर्ष में लुप्त हो जाने के कारण उनके प्रत्यक्ष जानकारी का कोई साधन उपलब्ध नहीं था। राहुलजी बौद्धन्याय ग्रन्थों के मूल ग्रन्थों के साथ ही सनातन न्यायग्रन्थों का अध्ययन करना परमावश्यक समझते थे क्योंकि उसके बिना ज्ञान अधूरा रहता। इसीलिए बौद्धन्याय का ज्ञान प्राप्त करने हेतु वे लंका गये किन्तु वहाँ पर थेरवाद का अध्यापन तथा अध्ययन होता था। यहाँ पर भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी किन्तु यहाँ उन्हें पता चला कि यदि वे महायान का गहन अध्ययन करना चाहते हैं तो उनका तिब्बत जाना बहुत जरूरी है। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। अतः अपने ज्ञान की प्यास बुझाने के लिए उन्होंने तिब्बत की जोखिम भरी चार यात्राएँ (1929-30, 1934, 1935, 1938) कीं और इन यात्राओं में अमूल्य ग्रन्थ राशि को भारत ले आये। राहुल सांकृत्यायन द्वारा लायी गयी यह ज्ञान राशि विश्वसम्पदा बन गयी। विश्व के कोने-कोने में इसका प्रचार होने के कारण विगत छः दशकों से विश्व के जर्मनी, जापान, रूस, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, इंगलैण्ड, श्रीलंका, जावा, चीन, तिब्बत, स्याम, कोरिया, फ्रांस, नीदरलैण्ड, भारतवर्ष आदि देशों के विद्वान् इस संग्रह पर शोध कार्य कर रहे हैं। इस संग्रह का पता लग जाने के बाद विशेषतया भारतवर्ष में बौद्धविद्या तथा बौद्धधर्म की विशेष प्रगति हुई है। आजकल विश्व के शताधिक विद्वान् राहुल-संग्रह पर कार्य कर रहे हैं। राहुल-संग्रह के सम्पादन, अनुवाद (विभिन्न भाषाओं में) एवं आलोचनात्मक अध्ययन के साथ ही उसके आधार पर नये सिरे से इतिहास लेखन का कार्य भी हो रहा है।

राहुलजी से प्रेरित होकर रोम के प्रसिद्ध भारत विद्याविद जी.टूची भी तिब्बत गये और वहाँ से थंका, पाण्डुलिपियाँ आदि विपुल सम्पदा रोम लाये, किन्तु उनके द्वारा लायी गयी सामग्रियों का उपयोग विद्वान् नहीं कर पाये क्योंकि उन्होंने एक तरह से व्यक्तिगत सम्पदा के रूप में उसका व्यवहार किया जबकि राहुलजी ने अपने संग्रह को मुक्तहस्त से विश्व के विद्वानों को बाँटा। जापान के प्रसिद्ध विद्वान् तका शिरो को उन्होंने *अभिसमयालंकार* पर बुद्धश्रीज्ञान, जो विक्रमशील महाविहार के प्रथम कुलपति थे, की टीका का मूल संस्कृत में आठवें 'परिवर्त्त' का तिब्बत से लाया हुआ छाया चित्र दिया, जिसका सम्पादन एवं प्रकाशन जापान से हुआ। *तर्कज्वालासूत्र* को राहुलजी ने वी.वी. गोखले को सम्पादनार्थ दिया। इस महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपि को राहुलजी ने तिब्बत में बैठकर देवनागरी लिपि में लिप्यन्तर किया था। राहुलजी इस ग्रन्थ का सम्पादन स्वयं भी कर सकते थे किन्तु वे चाहते थे कि ये सारे ग्रन्थ जल्द से जल्द विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत हो सकें। इस पाण्डुलिपि को राहुलजी ने चालीस के दशक में प्रोफेसर गोखले को दिया था किन्तु प्रो. गोखले ने भी इसके एक-एक अध्याय को आठ जापानी शोधार्थियों को सम्पादनार्थ दे दिया

जो गोखले के जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हो सका। बौद्ध-न्याय का यह महान् ग्रन्थ पाचवीं शती के आचार्य भव्य की कृति है। ये नालन्दा महाविहार के ख्याति-प्राप्त विद्वान् थे। इनका मूल ग्रन्थ (संस्कृत में) लुप्त हो गया था। इस ग्रन्थ में अन्य मतों के अतिरिक्त वेदान्त मत का भी खण्डन है। अतः इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने पर भारतीय दर्शन के इतिहास में एक नया मोड़ आया। प्रायः विद्वान् यही जानते हैं कि वेदान्त मत के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य (आठवीं शती) हैं किन्तु इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने के बाद यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि शंकराचार्य के तीन सौ वर्ष पहले भी वेदान्त का स्वतन्त्र अस्तित्व था। इस प्रकार न केवल बौद्ध वाङ्मय अपितु न्याय, वेदान्त आदि आस्तिक दर्शनों में भी राहुलजी का अमूल्य योगदान है।

बौद्ध धर्म भारत का अतिविशिष्ट एवं प्रतिभाशाली धर्म रहा है। इसके संस्थापक गौतम बुद्ध ने बहुत ही मनोयोग पूर्वक इस धर्म का 45 वर्षों तक प्रचार किया था। इस धर्म के अनुयायी सम्पूर्ण भारतवर्ष में चक्रवर्ती सम्राटों से लेकर सर्वसाधारण व्यक्ति तक बहुलता से फैले हुए थे। इसके भिक्षुओं, विहारों और मठों से भारतवर्ष का कोना-कोना व्याप्त था। इसके विचारक और दार्शनिक सहस्राब्दियों तक भारतवर्ष के अन्य दार्शनिक विचारों को प्रभावित करते रहे हैं। बौद्ध कला-विशारदों ने भारतीय कला पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। इसके वास्तु-शास्त्री तथा प्रस्तर शिल्पियों ने वर्षों तक मनोयोगपूर्वक पर्वतों को काट तराश कर बराबर, अजंता, एलोरा, कार्ले, नासिक जैसे भव्य गुहा-विहारों का निर्माण किया। इसके दार्शनिक विचार एवं विनय (सदाचार) नियमों को प्रारम्भ से लेकर आजतक विद्वान् बहुमान देते रहे।

ऐसा प्रतापी और जाज्वल्यमान बौद्ध धर्म अपनी ही मातृभूमि भारत से किस प्रकार उच्छिन्न हो गया, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा घोर आश्चर्य का विषय है। भारत से बौद्ध-धर्म का लोप तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों में हुआ। विचार करने पर यह पता चला कि भारतवर्ष से इस महान् धर्म के लोप होने के उत्तरदायी स्वयं बौद्ध ही थे और रही सही कसर को विदेशी आक्रान्ताओं ने पूर्ण किया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आठवीं शती में एक प्रकार से सभी बौद्ध सम्प्रदाय वज्रयान गर्भित महायान के अनुयायी हो गये थे। बुद्ध की सीधी-सादी शिक्षाओं के स्थान पर त्राटक और हिप्नोटिज्म के बल पर ये जनता पर धाक जमाये बैठे थे। पञ्चमकार का खुल्लम-खुल्ला प्रयोग होने के कारण बौद्ध-धर्म जर्जर होता चला गया।

उन्नीसवीं शती में विश्व के प्राच्य भारत-विद्याविदों का ध्यान इस ओर गया और चीनी तथा तिब्बती भाषा में अनुवादों से बौद्ध ग्रन्थों के सहारे मूल संस्कृत में अनुवाद अथवा अंग्रेजी भाषा में अनुवाद तथा सम्पादन कार्य प्रारम्भ हुआ जिसमें पुर्से द्वारा सम्पादित *अभिधर्मकोश;* एवं विद्वानों में श्चेरवास्की आदि विद्वान् प्रमुख हैं।

बौद्ध-संस्कृत पाण्डुलिपियों के अन्वेषण के क्रम में बीसवीं शताब्दी (1912-1914 ई.) में फ्रांसीसी, अंग्रेज, जर्मन, जापानी एवं रूसी खोजी दलों द्वारा चीनी तुर्किस्तान में भोज पत्र पर लिखे गये पाण्डुलिपियों के जीर्ण अंशों को खोज निकाला गया जो लगभग दूसरी शती से सातवीं शती के हैं। ये सभी ग्रन्थ मुख्यतया बौद्ध वाङ्मय से सम्बद्ध पालिभाषा अथवा संस्कृत में हैं किन्तु इनमें से प्रायः सभी ग्रन्थ खण्डित, जीर्ण तथा अपूर्ण हैं। इन पर धीरे-धीरे कार्य हो रहे हैं तथा उनके फेसीमिल संस्करण निकाले जा रहे हैं।

पण्डित राहुल सांकृत्यायन उत्तम कोटि के यायावर, पुरातत्त्ववेत्ता, भारत विद्याविद्, चिन्तक, प्राध्यापक तथा स्वतन्त्रता सेनानी के साथ-साथ अदम्य इच्छाशक्ति से परिपूर्ण अन्वेषक थे। यदि हम राहुल सांकृत्यायन के जीवन पर सूक्ष्मता से विचार करें तो दो बातें मुख्य रूप से हमारे समक्ष आती हैं-(1) बौद्ध वाङ्मय का उद्धार, (2) साम्यवाद की सेवा। इसमें बौद्ध वाङ्मय के उद्धार को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है। बौद्ध वाङ्मय के प्रति राहुलजी बहुत ही गम्भीर थे और उनके उद्धार के लिए उन्होंने प्राणपण से चेष्टा की और इसमें वे सफल भी

हुए। अतः बौद्ध वाङ्मय को राहुलजी का अवदान बहुत बड़ा है। राहुलजी बुद्ध के विचारों से बहुत प्रभावित थे। उन्हें बौद्ध धर्म ही एक ऐसा धर्म लगा जहाँ पर तर्क अथवा स्वविवेक को स्थान मिला हुआ था अन्यथा अन्य धर्म उन्हें व्यक्ति के ऊपर थोपने वाले ही लगे। इसीलिए वे वैष्णव, वैरागी, संन्यासी, आर्य समाजी, बौद्ध और अन्त में मार्क्सवादी बने। वस्तुतः राहुलजी ने भारतीय दार्शनिक विचारों तथा न्याय को ऐतिहासिक क्रमानुसार समझने का प्रयास किया। भारतीय दार्शनिकों के विचारों के अध्ययन के क्रम में न्याय पढ़ने हेतु उन्हें अनेक स्थानों तथा विद्या-केन्द्रों में जाना पड़ा। किन्तु वे जहाँ भी गये, केवल न्यायशास्त्र का एक पक्षीय ज्ञान ही उन्हें प्राप्त हुआ। उसमें बौद्धों का खण्डन तो मिल जाता था किन्तु भारतवर्ष में बौद्धग्रंथों के लुप्त हो जाने से वे ग्रन्थ मिल नहीं पाते थे जिससे मूल ग्रन्थ देखकर राहुलजी अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त कर सकें। इन्हीं कारणों से राहुलजी ने तिब्बत में जाकर मूल बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों को खोज निकाला क्योंकि राहुलजी को पता था कि नालन्दा, विक्रमशील, ओदन्तपुरी, कश्मीर आदि की बौद्ध पाण्डुलिपियाँ तिब्बत के विहारों में सुरक्षित हैं। बौद्ध दर्शन के राहुल जी के जीवन दृष्टि का प्रधान अंग बन जाने के कारण उन्होंने इसके सम्बन्ध में दोहरा कार्य किया। सम्बन्धित अध्ययन की सामग्री जुटाना तथा देश में एक ऐसा वैचारिक आन्दोलन चलाना जिसमें जन मानस बौद्धों के उदार दृष्टिकोण को अपना सके। इन दोनों दिशाओं में राहुलजी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उनके ये कार्य इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण समझे गये कि भारतवर्ष अपनी इस समृद्ध धारा से शताब्दियों तक अपरिचित एवं वंचित हो गया था।

प्रमाणवार्त्तिक बौधन्याय की रीढ़ है तथा सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। *प्रमाणवार्त्तिक* को समझने के लिए न्याय के ग्रन्थों का एक विशाल परिवार है। राहुलजी ने अपने प्रयास से प्रमाण-वार्त्तिक परिवार के बहुतेरे ग्रन्थों को खोज निकाला जिनमें *वार्त्तिकालंकार भाष्य*, मनोरथनन्दी की वृत्ति, धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक की *स्वोपज्ञवृत्ति*, कर्णकगोमी की *वृत्तिटीका*, *हेतुबिन्दु* एवं उसकी टीकाएँ, *धर्मोत्तरप्रदीप*, जितारि के दस निबन्ध, शंकरनन्दन के निबन्ध, *ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली* तथा रत्नकीर्ति के दस न्याय निबन्ध तथा अन्यान्य प्रकरण ग्रन्थ अपने मूल संस्कृत रूप में ही प्राप्त हो गये। इन ग्रन्थों के साथ उन्हें वैभाषिक, माध्यमिक, विज्ञानवाद, अभिधर्म, विनय तथा तंत्र के सैकड़ों ग्रन्थ भी प्राप्त हुए।

इन ग्रन्थों का जैसे-जैसे सम्पादन एवं प्रकाशन होता जा रहा है, वैसे-वैसे प्राचीन भारतीय दर्शनों के अध्ययन का द्वार खुलता जा रहा है। आवश्यक सामग्री के अभाव में इन ग्रन्थों का सम्पादन-कार्य बहुत ही दुष्कर था। अतः बहुत से दुरुह कार्यों को राहुलजी ने स्वयं अपने हाथ में लेकर पूरा किया। ग्रन्थों का संस्करण, संस्कृत छायानुवाद, उनकी ऐतिहासिक मीमांसा आदि करके बौद्ध दर्शन एवं न्याय के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

बौद्ध धर्म के प्रति राहुलजी के आकर्षण का मुख्य कारण यह था कि यह धर्म सदा से स्थिर नहीं बल्कि गतिमान था। पूर्ण नहीं अपितु वर्धमान था। भारत में भी बौद्ध संस्कृति गतिशील एवं संवर्द्धनशील थी। भारत से बाहर जाने पर भी यह वहाँ के देश एवं काल से प्रभावित होकर सतत गतिमान एवं वर्धमान रही।

राहुल जी का व्यक्तित्व विराट् एवं बहुआयामी था। विलक्षण प्रतिभा एवं कठोर परिश्रम ने उन्हें अन्वेषक, दुस्साहसपूर्ण पर्यटक, पुरातत्ववेत्ता, इतिहासकार, भारतविद्याविद्, ज्ञानपिपासु, चिन्तक, त्रिपिटकाचार्य, महापण्डित, प्राध्यापक, स्वतन्त्रता सेनानी, सनातनी, वैष्णव, वैरागी, साधु, आर्यसमाजी, बौद्ध और अन्ततः मार्क्सवादी बनाया। साढ़े छः फुट लम्बे कद्दावर पठान जैसे लम्बे गौरवर्ण, तीखे नाक-नक्श, सुदर्शन व्यक्तित्व के धनी राहुल सांकृत्यायन समय से बहुत आगे थे। अतः उन्हें समझने में बहुत से लोगों ने भूल की। असत्य के शत्रु और सत्य के अनुरागी प्रचारक राहुल ने समीक्षक-साहित्यकार की दायित्वपूर्ण भूमिका निभायी और उन अनन्त लोक धारणाओं पर कुठाराघात किया जो भारतीय लोगों की ऐतिहासिक प्रगति में बाधक थी। इससे सर्वसाधारण तथा पण्डित वर्ग दोनों

को लाभ हुआ। राहुलजी ने विभिन्न विद्याओं पर लगभग 150 पुस्तकों की रचना की है, तथापि बौद्ध दर्शन के प्रति उनके विशेष आकर्षण का मुख्य कारण इस धर्म की गतिशीलता एवं संवर्द्धनशीलता ही थी। भारत के कुछ महापुरुषों की तरह राहुलजी का प्रबुद्ध जीवन भी वैराग्य की उर्वर भूमि पर अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और विकसित हुआ। किशोरावस्था में ही साधुसंग और वेदान्त ने राहुलजी पर वैराग्य का असर डाला। प्राचीन के प्रति अपर्याप्तत्व तथा नीरसता का बोध वैराग्य को जन्म देता है और इसका उचित मात्रा में विकास नवीन जिज्ञासाओं एवं आकांक्षाओं को विकसित करने में सहायक होता है। अज्ञात रहस्य के प्रति जिज्ञासा और दृश्यमान जगत् के प्रति कौतूहल, दोनों वृत्तियाँ राहुलजी में किशोरावस्था में ही विकसित हो चुकी थी।

हिमालय दर्शन की इच्छा एवं संस्कृत वाङ्मय में निहित ज्ञान में पारंगत होने की तीव्र लालसा ने राहुल जी को घर से बेघर कर दिया। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश के तीर्थों, मठों, मन्दिरों, पाठशालाओं तथा विद्या केन्द्रों की खाक छानते हुए भारतवर्ष की अनेक बार इन्हें परिक्रमा करनी पड़ी जिसमें भारतीय जीवन की समस्त विविधताओं का बहुत समीप से सूक्ष्म निरीक्षण करने का सुअवसर मिला। इस प्रकार उनके अन्तर्मन में अनेक परिवर्तन हुए, यथा त्रिकाल संध्या, वैदिक संहिताओं का सस्वर पाठ, शिवोपासना, निराकार चिन्तन, विष्णु उपासना, वैरागी साधु बनना, आर्यसमाजी, घोर सुधारवादी, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व संभालना, हिन्दू धर्म के लिये मिशनरी तैयार करने की उत्सुकता, बुद्ध की बुद्धिवादिता एवं उदारता का कायल होना, धार्मिक सीमाओं का परित्याग और अन्ततः मार्क्सवाद को अपनाना तथा पार्टी से कुछ समय के लिए निकाले जाने के बाद भी अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक मार्क्सवाद की सेवा करते रहना आदि ऐसी बातें हैं जिनके आधार पर राहुलजी के आचार-विचार, परिचय एवं जीवनवृत्त को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

इन विविधताओं के बीच राहुलजी के जीवन में एक ऐसा समन्वय विकसित हुआ था जिसमें पुरातनता नित्य नूतनता एवं भेद-अभेद के साथ समरस हो जाते हैं। सत्यान्वेषण में वे इतने निष्पक्ष थे कि अपने विचारों का भी कभी कोई आग्रह उन्होंने नहीं रखा। "बेड़े की तरह पार उतरने के लिये मैंने विचारों को स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाये फिरने के लिए" राहुलजी ने स्वयं कहा है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. राहुल सांकृत्यायन : *तिब्बत में बौद्ध धर्म,* किताब महल, दिल्ली, 1935
2. राहुल सांकृत्यायन : *दर्शन दिग्दर्शन,* किताब महल, इलाहाबाद, 1944, पुनर्मुद्रित 1961
3. आचार्य नरेन्द्र देव : *बौद्ध धर्म दर्शन,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1971
4. लक्ष्मी नारायण दूबे : *बौद्ध दर्शन, संस्कृति एवं साहित्य,* केन्द्रीय उच्च तिब्बती संस्थान, सारनाथ, 1997
5. गुणाकर मुले : *महापण्डित राहुल-जीवन एवं कृतित्व,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1993
6. उर्मिलेश : *राहुल सांकृत्यायन-सृजन एवं संघर्ष,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1994
7. गुणाकर मुले : *राहुल चिन्तन,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
8. विद्यानिवास मिश्र एवं रामेश्वर मिश्र पंकज (सम्पादन) : *राहुल चयनिका,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1993
9. गुणाकर मुले : *स्वयंभू महापण्डित,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
10. राहुल सांकृत्यायन : *मेरी जीवन यात्रा,* भाग 2, किताब महल, इलाहाबाद, 1950

•